स्वामी मुक्तानन्द के वचनों पर ध्यान

ईस्टर के उपलक्ष्य में सिद्धयोग सत्संग

ईशा सरदेसाई द्वारा लिखित

शरीर को मित्र बनाओ

जिस कहानी पर हम केन्द्रण कर रहे हैं, उसमें बाबा मुक्तानन्द हमें बताते हैं कि सन्त महामुनि अपने अन्त समय में अपने शरीर से क्या कहते हैं। उन्होंने अपने शरीर को जो यातना-पीड़ा दी, उसके लिए वे खेद प्रकट करते हैं। वे कहते हैं, "मैंने तुझे न जाने कितना पीड़ित किया होगा। कितना त्रास दिया होगा। . . . मैंने जाने-अनजाने तेरे प्रति कितने अपराध किए होंगे।"[१] वे इस बात के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते कि इस पूरे समय में उनका शरीर दृढ़तापूर्वक उनके साथ बना रहा, और वे अपने शरीर को धन्यवाद देते हैं कि उसने उनकी सहायता की ताकि वे साधना द्वारा भगवान की अनुभूति कर सकें, परमात्मा को प्राप्त कर सकें।

भगवान की खोज में लोगों ने अपने शरीर को हर तरह के कष्ट दिए हैं। अकसर वे बस उन्हीं रीति-रिवाजों का पालन कर रहे होते हैं जो उनकी धार्मिक परम्परा में निर्धारित किए गए हैं या बताए गए हैं। वे पर्वत की चोटी पर एक पाँव पर खड़े होते हैं। वे कई-कई दिनों तक उपवास करते हैं; वे खुद को नींद से वंचित रखते हैं। वे नंगे पाँव तीर्थस्थानों की यात्रा करते हैं—कभी सैकड़ों मील चलते हैं, कभी ऊँचे व पथरीले पहाड़ों पर चढ़ते हैं, उनके अंगों में दर्द होता है, उनके पैरों से खून निकल रहा होता है। बाबा जी जिन सन्त-महात्मा की कहानी सुना रहे हैं, उन्होंने भी भगवान की खोज में शायद इनमें से एक या उससे अधिक चीज़ें की होंगी।

मुझे लगता है कि जो लोग खुद को ज़्यादा धार्मिक या आध्यात्मिक वृत्ति का नहीं भी मानते हैं, वे भी कुछ हद तक इसे समझ सकते हैं। अधिकतर लोग किसी ऐसी पूर्णता को पाने या अपनी क्षमता का पूर्ण विकास करने के लिए अपने शरीर का उपयोग करते हैं जिसके लिए उन्हें खुद को अपनी वर्तमान अवस्था से अधिक नया, बेहतर, निखरा हुआ बनाना होता है। और वे जिस आदर्श की चाह रखते हैं, वह हमेशा ही पहुँच से *बिलकुल* बाहर लगता है। या हो सकता है कि उनकी नज़र में उसे हासिल किया जा सकता हो, पर शायद तब तक नहीं, जब तक कि वे एक उचित सीमा से अधिक ज़ोर न लगा लें।

इस रवैये में जो समस्या मुझे नज़र आती है—और मैं समझती हूँ कि वे महात्मा जी भी इसी बात की ओर संकेत कर रहे थे—वह यह है कि इसका आधार होता है, खुद को अस्वीकार करना। हमारे शरीर

जैसे हैं, वैसे ही नहीं बने रह सकते। *हम* आज जैसे हैं, हमेशा वैसे ही नहीं रह सकते। हमें आरम्भिक तौर पर जैसा शरीर दिया गया है, उसे अपना आधार-बिन्दु मानकर, उसी रूप में उसे स्वीकार करने के बजाय, और वहीं से उसकी अनेकानेक जन्मजात विशिष्टताओं व क्षमताओं की खोज करने—पुनः खोज करने और *खोज करते रहने*—के बजाय, हम इसे एक बाधा के रूप में देखते हैं। एक ऐसी बाधा, जिसे हमें पार करना है। वे सारी कसौटियाँ जिन पर हम इस शरीर को परखते हैं, सभी मानो एक ही अनकहे प्रश्न से उठती हैं, "क्या मैं अपने शरीर के *बावजूद,* यह बन सकता हूँ, यह कर सकता हूँ, यह हासिल कर सकता हूँ?"

सिद्धयोग पथ पर गुरुमाई जी और बाबा मुक्तानन्द ने हमें प्रोत्साहित किया है कि हम खुद से एक अन्य ही प्रश्न पूछें। इस शरीर का और जो अनेक उपहार इसने हमें दिए हैं, उनका उपयोग हम किस प्रकार कर सकते हैं, ताकि हम अपने लक्ष्यों को प्राप्त कर सकें? विशेष तौर पर, हम इस शरीर का उपयोग भगवान को जानने के लिए किस प्रकार कर सकते हैं? सिद्धयोग साधना में अनुशासन अनिर्वाय है। इसके लिए प्रयास चाहिए। परन्तु यह ऐसा प्रयास है जिसमें हमें अपने शरीर के *विरुद्ध* नहीं, बल्कि *इसके साथ* कार्य करना है। जैसा कि गुरुमाई जी ने कहा है, "सिद्धयोग पथ का अनुसरण करने के लिए तुम्हें किसी और जैसा बनने की या कुछ और बनने की ज़रूरत नहीं है। गुरु से प्रेम करने के लिए तुम्हें अपने जैसा ही रहना है, किसी और जैसा बनने की ज़रूरत नहीं है।"

इसलिए मैं आपसे पूछना चाहती हूँ : क्या आपके पास ऐसे कोई मापदण्ड या ऐसा कुछ है जिनसे आपको यह पता चल सके कि परिपूर्णता यानी परफ़ैक्शन के नाम पर आप कब खुद पर ज़रूरत से ज़्यादा ज़ोर डाल रहे हैं? क्या आपके पास ऐसा कोई बैरोमीटर यानी यन्त्र है जिससे आप अपने प्रयासों की प्रबलता को माप सकें और उन प्रयासों से मिलने वाले परिणामों के आधार पर उन प्रयासों का आकलन कर सकें? क्या इस सबके बीच भी आप वसन्त के उमंगोत्साह को अपने श्वास में भरने के लिए समय निकाल रहे हैं—क्या आप इसके सार को अपनी सत्ता के रोम-रोम को स्पर्श करने व सुकून पहुँचाने दे रहे हैं?

© २०२६ एस. वाय. डी. ए. फ़ाउन्डेशन®। सर्वाधिकार सुरक्षित।

---

[१] स्वामी मुक्तानन्द, *चित्शक्ति विलास : एक आध्यात्मिक आत्मकथा* [चित्शक्ति पब्लिकेशन्स, २०२२] पृ. २५३।